धर्मशास्त्रीय न्याय प्रणाली

*प्रो. शालिनी सक्सेना

धर्मशास्त्र को प्राचीन मानवशास्त्र कहा गया है। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में मानव जीवन के प्रत्येक पहलू, आश्रम के सम्बन्ध में जो दिशानिर्देश दिए गए वे प्रत्येक मानव के लिए आचार संहिता कहलाई। निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को दण्ड देना राजा के प्रमुख कार्य कहे गए हैं। राजा न्याय का स्रोत है। मनु ने कहा है कि उपनयन संस्कार से युक्त अभिषिक्त राजा न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करें क्योंकि इस संसार को बिना राजा के होने पर बलवानों के डर से प्रजाओं के इधर उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए भगवान् ने राजा की सृष्टि की। राजा के प्रतिदिन के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि दिन के दूसरे भाग में राजा को पौर जानपदों के झगड़ों का निपटारा करना चाहिए– द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत्।

व्यवहाराध्याय में मनु ने लिखा है कि लोगों के झगड़ों को निपटाने की इच्छा से राजा को ब्राह्मणों एवं मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश करना चाहिए और प्रतिदिन झगड़ों के कारणों को तय करना चाहिए। याज्ञवल्क्य के अनुसार अभिषेक आदि गुणों से अन्वित राजा का प्रजापालन परम कर्तव्य है। राजा क्रोध और लोभ त्यागकर विद्वान् ब्राह्मणों के साथ धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहार का निर्णय करना चाहिए। यहाँ याज्ञवल्क्य ने व्यवहार शब्द का प्रयोग न्याय के लिए किया गया है। निष्पक्ष न्याय से वही फल मिलता है जो पवित्र यज्ञों से मिलता है। इससे स्पष्ट है कि न्यायानुशासन को राजा का अत्यधिक पवित्र कर्तव्य माना गया है। राजा की कचहरी या न्यायालय को धर्मासन, धर्मस्थान अथवा धर्माधिकरण कहा गया है।

जब मनुष्य धार्मिक एवं सत्यवादी था उस समय न तो व्यवहार की आवश्यकता थी न द्वेष एवं मात्सर्य कहीं विद्यमान था। जब मनुष्यों में धर्म का ह्रास होने लगा तब धर्म एवं न्याय का प्रवर्त्तन हुआ और राजा को झगड़ों को दूर करने वाला अैर दण्डधर कहा गया।[पपप] वैदिक ऋत की संकल्पना के स्थान पर यहाँ धर्म आ गया। ऋत शब्द ऋग्वेद में सर्वातिशायी नियम या व्यवहार अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यवस्था को द्योतक था। वही अर्थ कालान्तर में धर्म से ग्रहण किया जाने लगा। सामान्यतः व्यवहार शब्द के अनेक अर्थ हैं लेकिन धर्मशास्त्र में व्यवहार मुकदमें या न्यायालय में गए हुए झगड़े एवं न्यायसम्बन्धी विधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। विवाद शब्द भी जिसका अर्थ झगड़ा है कई स्थानों पर व्यवहार विधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कात्यायन ने व्यवहार शब्द की परिभाषा देते हुए कहा है–

वि नानार्थेऽवसन्देहे हरणं हार उच्यते।
नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः।।

अर्थात् वि उपसर्ग नाना अर्थात बहुत के अर्थ में अव उपसर्ग सन्देह के अर्थ में तथा हार शब्द हटाने या हरण अर्थ में प्रयुक्त होता है। अर्थात् व्यवहार बहुत से सन्देहों को हटाता है या दूर करता है। यह परिभाषा न्यायशासन की महिमा को प्रतिपादित करती है। कानून का उद्देश्य झगड़ों के बीच सत्य का उद्घाटन करना है। न्याय शीघ्रता के साथ प्रमाणों के आधार पर सत्य की खोज करता है। धर्मशास्त्रीय स्मृति ग्रन्थों एवं निबन्ध ग्रन्थों में व्यवहार एवं व्यवहारविधि का विस्तार से विवेचन किया गया है।

व्यवहार का अर्थ है झगड़ें, विवाद या मुकदमे का विषय– व्यवहारः तस्य पदं विषयः पदं स्थानं निमित्तमिति यावत्। स च द्विविधः शंकाभियोगस्तत्वाभियोगश्चेति।[पअ] याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई व्यक्ति जो दसरों द्वारा स्मृति नियमों एवं आचारविरुद्ध पीड़ित किया जाता है तब राजा या न्यायाधिकारी को सूचित करता है तो इसे व्यवहारपद कहते हैं। व्यवहारमयूखकार ने व्यवहार की परिभाषा देते हुए कहा है कि विप्रतिपद्यमाननरान्तरगताज्ञाताधर्मज्ञापनानुकूलो व्यापारो व्यवहारः। वादिप्रतिवादिकर्तृकः सम्भवद्भोगसाक्षिप्रमाणको विरोधिकोटि– व्यवस्थापनानुकूलो वा व्यापारः सः।।[पपप] परस्पर विपरीत विचार प्रकट करने वाले लोगों के मध्य अज्ञात अधर्म का ज्ञापन करने वाला व्यापार व्यवहार है और वह वादी प्रतिवादी के द्वारा उत्पन्न प्रमाण आदि द्वारा व्यवस्था के अनुकूल व्यापार है। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने 18 तो नारद ने 15 विवाद पद स्वीकार किए हैं।

याज्ञवल्क्य की परिभाषा के अनुसार व्यवहारपद में वे झगड़े आते हैं जो वादी प्रतिवादी की ओर से न्यायालय में प्रारम्भ किए जाते हैं। मनु का कहना है कि न तो राजा को और न किसी राजकर्मचारी को मुकदमों को प्रारमभ करना चाहिए और न राजा को किसी वादी द्वारा लाये गये मुकदमे को दबाना चाहिए। कात्यायन के अनुसार यदि वादी प्रतिवादी न्यायलय में आना चाहें तो राजा को अपने प्रभाव या लोभ से उनके झगड़ों को निपटाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार धर्मस्थ व्यवहारपदों को निर्णय करते हैं।

न्यायालय में व्यवहार प्रक्रिया के चार चरण बताए गए हैं। इन्हें चतुष्पाद व्यवहार के नाम से जाना जाता हैः– चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः।।[पपप] याज्ञवल्क्य के अनुसार वह व्यवहार चार पद वाला है– अभियोग, उत्तर, क्रिया एवं निर्णय। नारद के अनुसार व्यवहार के चार पद धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजशासन हैं। धर्म के अनुसार निर्णय का तात्पर्य है कि अपराधी अपना दोष स्वीकार कर ले और वादी को उसका धन आदि जो भी परिणाम है व मिल जाए या उसकी माँग की पूर्ति हो जाए। इसमें आगे मुकदमा चलने की सम्भावना नहीं रहती और प्रमाण आदि प्रस्तुत करने की क्रियाएं सम्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार दिव्य द्वारा प्रमाण एकत्र कर निर्णय देना भी धर्म पाद माना जाता है। दिव्य को सत्य प्रमाणित करने के लिए प्रयोग में लिया जाता है। इसमें अपराधी सत्य कहता है और इस प्रकार के निर्णयों को धर्म का निर्णय कहा जाता है। जब न्यायालय में साक्षियों द्वारा वाद लड़ा जाता है तब उसे व्यवहार कहते हैं। इसमें साक्षी प्रमाणमात्र का वाचक है। यह प्रमाण चार प्रकार के हो सकते हैं। लिखित भुक्ति, साक्षी एवं दिव्य। जब प्रतिवादी सीधे ढ़ंग से उत्तर न देने का अपनराधी सिद्ध होता है अथवा उसके उत्तर दोषपूर्ण होने से अस्वीकार्य हो जाते हैं अैर निर्णय उसके विपक्ष में जाता है, तब निर्णय व्यवहार द्वारा ही होता है। चरित्र से तात्पर्य देश, ग्राम, कुल की परम्परा या रूढ़ि– पूर्वकृता चरित्रं समुदाहृतम्। चरित्र का अर्थ अनुमान है। अनुमानेन निर्णीतं चरित्रमिति कथ्यते। रूढ़ियों एवं परम्पराओं के आधार पर भी निर्णय दिया जाता था। ऐसी रूढ़ियां जो राजा द्वारा लिखित कर ली गई हों निर्णय के लिए प्रामाणिक मानी जाती थीं। राजशासन वह है जो राजा द्वारा दिया जाता था लेकिन वह स्मृतिविरुद्ध एवं स्थानीय रूढ़ियों के विरुद्ध नहीं हो सकता था। वह राजा की बौद्धिक क्षमता का परिचायक होता था और तभी क्रियान्वित होता है जब दोनों ही पक्ष प्रबल हों और उनके पक्ष में प्रस्तुत प्रमाण शास्त्रीय व अकाट्य हों।

अन्य स्मृतियों ने भी व्यवहार के चाद पादों का विवेचन करते हुए कहा है–

भाषोत्तरक्रियासाध्यसिद्धिभिः क्रमवृत्तिभिः।
आक्षिप्तचतुरंयास्तु चतुष्पादभिधीयते।।[पपप]

याज्ञवल्क्य के चतुष्पाद व्यवहार के चार चरण न्यायिक प्रक्रिया को प्रतिपादित करते हैंः–

भाषापादः– भाषापाद से तात्पर्य वादी द्वारा राजा के समक्ष उपस्थित होकर प्रत्यर्थी के विरुद्ध वाद दायर करना।

भाषापाद की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए याज्ञवल्क्य ने लिखा है–

प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना।
समामासतद्र्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम।।

अर्थात् पहले प्रत्यर्थी के विषय में अर्थी द्वारा पहले बताया गया लिखें और उसके आगे वर्ष, मास, पक्ष, दिन नाम जाति आदि अंकित करें। यहाँ न्यायालय में न्यायाधीश द्वारा अर्थी अर्थात् वादी द्वारा प्रस्तुत वाद को यथावत् लिखना चाहिए। कुछ भी इधर उधर या विपरीत लिखने से वाद खारिज हो सकता है। वाद को पहले भूमि पर अथवा मिट्टी से लिखे फिर उसका शोधन करके पत्र अर्थात् कागज आदि पर लिखें। वादी द्वारा प्रस्तुत वाद में किसी भी प्रकार का संशोधन तब तक ही किया जा सकता था जब तक कि प्रत्यर्थी द्वारा उसका उत्तर न दे दिया गया हो। जैसा कि नारद ने कहा है– शोधयेत्पूर्व वादं तु यावन्नोत्तरदशनम्। अवष्टब्धस्येत्तरेण निवृत्तं शोधनं परम्।।[पपप] यदि पूर्वपक्ष के शोधन के बिना ही सभ्यों के द्वारा रागद्वेषवश यदि उत्तर दिलवा दिया जाता है तो सभ्यों को दण्ड देकर पुनः वाद प्रवर्तित किया जाता था।

उत्तरपाद– चतुष्पाद व्यवहार के अन्तर्गत द्वितीय पाद उत्तरपाद है। अर्थी ने जो न्यायालय में निवेदन किया किया है, प्रत्यर्थी द्वारा उसका उत्तर लिखाना उत्तरपाद कहलाता है। उत्तर की परिभाषा लिखते हुए मिताक्षराकार कहते हैं– पूर्वावेदकस्यार्थिन– संनिधौ समीपे उत्तरं च यत्पूर्वोक्तस्य निराकरणं तदुच्यते। अर्थात् अर्थी द्वारा आवेदित वाद का निराकरण प्रस्तुत करना ही उत्तर कहलाता है। वह उत्तर ऐसा होना चाहिए कि उसमें प्रत्यर्थी का पक्ष सार रूप में स्पष्ट हो जाए,असन्दिग्ध हो जिसके व्याख्या की आवश्यकता न हो पूर्वापरविरुद्ध न हो। वह उत्तर चार प्रकार का कहा गया है– संप्रतिपत्ति, मिथ्या, प्रत्यवस्क्न्दन, पूर्वन्याय। यदि प्रत्यर्थी वादी द्वारा लगाए गए आरोप को स्वीकार कर लेता है तो यह सत्य उत्तर कहलाता है। यदि प्रत्यर्थी वादी के आरोप को मिथ्या कहकर अस्वीकार कर दें तो मिथ्या उत्तर कहलाता है। जब वादी के आरोप को प्रतिवादी स्वीकार तो करें लेकिन उसका निराकरण भी कर दे तो प्रत्यवस्कन्दन कहलाता है जैसे वादी ने किसी पर धन लेने का आरोप लगाया प्रतिवादी उसके आरोप को स्वीकार कर कहे कि हाँ मैनें इसका धन लिया था लेकिन लौटा दिया ये प्रत्यवस्कन्दन है और जब प्रत्यर्थी स्वयं अपने को आरोपी स्वीकार कर ले तो यह पूर्वन्याय होता है। प्रत्यर्थी द्वारा सुनी बात और उसका उत्तर अर्थी की उपस्थिति में लिखावें।

क्रियापादः– प्रत्यर्थी द्वारा वादी द्वारा दायर वाद के उत्तर के बाद ही क्रिया पाद का प्रचलन होता है। क्रियापाद की स्थिति तब बनती है जब प्रतिवादी वादी की बात को स्वीकार नहीं करता। ऐसे में वादी को अभियोग सिद्ध करने वाला प्रमाण प्रस्तुत करना होता है। वादी प्रतिवादी द्वारा प्रमाण आदि प्रस्तुत कर अपने पक्ष को सही सिद्ध करने का प्रयास करना ही क्रियापाद कहलाता है। क्रियापाद में पहले वादी को अपने अभियोग के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता था। याज्ञवल्क्य ने व्यवहार के सन्दर्भ में चार प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख किया हैः– प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्। एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते।।[पपप]

अर्थात् लिखित साक्ष्य, भूमि आदि के विषय में उपभोग का प्रमाण, अथवा कोई प्रत्यक्षदृष्टा साक्षी को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। जहाँ ये तीनों ही प्रमाण न हों अथवा तीनों ही प्रमाण सत्य का उद्घाटन करने में असमर्थ हों वहाँ चतुर्थ दिव्यप्रमाण की आवश्यकता पड़ती थी। धन सम्बन्धी विवाद में सभी प्रकार के प्रमाणों में बाद वाला प्रमाण प्रबल माना जाता था। सर्वेष्वर्थविवादेषु बलवत्युत्तरा क्रिया।[पपप] आधि, दान और क्रय में पूर्व अर्थात् अपना अधिकार पहले का बताने वाला पक्ष बलवान होता है। तीन पीढ़ी पहले से चले आते हुए भोग(कब्जा) की अपेक्षा लेख्य प्रमाण अधिक प्रामाणिक होता है। यदि अभियोग चलते हुए अभियुक्त की मृत्यु हो जए एवं उसके उत्तराधिकारी लिखित प्रमाण प्रस्तुत करें उस स्थिति में बिना आगम के भोग प्रमाण नहीं माना जाता है।

निर्णयपादः– जब क्रियापाद के द्वारा वादी और प्रतिवादी अपने अपने पक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत कर देते हैं तब निर्णय पाद अथवा सिद्धि पाद की प्रवृत्ति होती है। यदि प्रमाण वादी के पक्ष में होते है तो उसकी विजय होती है अन्यथा वह पराजित सिद्ध होता है।

इस प्रकार से व्यवहार के चार पादों की प्रवृत्ति क्रमशः होती है–भाषोत्तरक्रियासाध्यसिद्धिभिः क्रमवृत्तिभिः। आक्षिप्तचतुरंशस्तु चतुष्पादभिधीयते।। कात्यायन ने इन्हें क्रमशः पूर्वपक्ष, उत्तर, प्रत्याकलित एवं क्रिया कहा है। प्रत्याकलित से तात्पर्य प्रमाण या साक्षी के विषय में सभ्यों के बीच विचार विमर्श। यदि कई आवेदन एक साथ प्राप्त हो जाते तो सभ्य वर्णक्रम से मुकदमों का निर्णय करते थे।

विवाद में जय पराजय का आधार वादी प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत प्रमाण ही होते हैं। उनके आधार पर अभियोग में वादी प्रतिवादी की जय पराजय का निश्चय किया जाता है। धर्मशास्त्र कारों ने प्रमाणों का सूक्ष्म विवेचन किया है ताकि सत्य प्रमाण एवं कूट प्रमाणों में भेद किया जा सके। चतुर्विध प्रमाणों में प्रथम प्रमाण है लिखित प्रमाण। इसे लेख्य भी कहा जाता है। लेख्य प्रमाण दो प्रकार का कहा गया हैः शासनं जानपदं च। पहला लिखित प्रमाण राजज्ञा एवं दूसरा व्यक्तिगत होता है। व्यक्तिगत या जानपद लेख्य प्रमाण भी दो प्रकार का है स्वहस्तलिखित तथा अन्य हस्तलिखित। प्रथम के लिए साक्षियों के प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती थी लेकिन दूसरे के लिए साक्षी आवश्यक थे। मिताक्षराकार का कथन है कि राजकीय प्रमाण सुन्दर संस्कृत में लिखे होने चाहिए एवं जानपद प्रमाण जनभाषा या स्थानीय भाष्रर में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। राजकीय लेख्य प्रमाण को भी तीन प्रकार का कहा गया है– राजशासन अर्थात् राजा द्वारा दी गई भूमि का अर्थात् राजप्रदत्त भूमि का, जयपत्र किसी मुकदमें में जीत का फैसला एवं प्रसादपत्र ईनाम स्वरूप दिया गया प्रमाणपत्र या पुरस्कार। वसिष्ठ ने इसके चसा भेद किए हैं शासन, जयपत्र, आज्ञापत्र एवं प्रज्ञापनापत्र। आज्ञापत्र राजाज्ञा से सम्बन्धित है तो प्रज्ञापनापत्र य कराने वालों, पुरोहित, गुरु, वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा अन्य श्रद्धास्पद लोगों के लिए लिखित प्रार्थना।

द्वितीय प्रमाण भोग या भुक्ति कहलाता है। बृहस्पति ने अचल सम्पत्ति केसात रूप माने हैंः–विद्या, क्रय, बन्धक, विजय, दहेज, वसीयत तथा सन्तानहीन सम्बन्धी की सम्पत्ति। अचल सम्पत्ति के उपभोग को ही भुक्ति नाम से कहा गया है। भुक्ति सागम व आगम दोनों प्रकार की हो सकती है। सागम अर्थात् दान या क्रय द्वारा प्राप्त स्वामित्व वाली। बिना स्पष्ट स्वामित्व एवं भोग के सम्पत्ति पक्की नहीं होती है। उपभोग के लिए पाँच चीजें आवश्यक हैंः–इसके पीछे आगम (स्वत्वप्रमाण) होना चाहिए। दीर्घकाल से उपभोग का पाया जाना, वह उपभोग टूट न सका हो तथा वह विरोधी की जानकारी में भी स्थिर रहा हो, वह आगम जो थोड़ से भी भोग से हीन है शक्तिशाली नहीं माना जाता। नारद के अनुसार स्पष्ट आगम से भोग शक्तिशाली होता है। यथा,

आगमेन विशुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम्।
अविशुद्धागमो भोगः प्रामाण्यं नैव गच्छति।।[पपप]

नारद के अनुसार आगम के पक्ष में लेख्यप्रमाण एवं साक्षियों के रहने पर भी भोग का अभाव विशेषतः अचल सम्पत्ति के विषय में उसे उचित नहीं ठहराता। बिना भोग के स्थानान्तर भले ही वह लिखित हो तथा साक्षीयुक्त हो संशयात्मक माना जाता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार दान एवं क्रय के विषय में स्थानान्तरण करने वाले का स्वामित्व समाप्त होकर दान प्राप्त करने वाले एवं क्रय करने वाले का का स्वामित्व अर्थात् भेग निश्चित हो जाना चाहिए। अतः भुक्ति प्रमाण में भोग की प्रबलता मानी गई है। तीन पीढ़ियों तक लगातार भोग लेख प्रमाण से युक्त आगम से प्रबलतर होता है। तीन पीढ़ी से कम भोग वाला पूर्वकालीन आगम उत्तरकालीन भोग सहित आगम से प्रबलतर होता है। जब भोग अपेक्षाकृत अल्प समय का होता है और उसका सहायक कोई आगम नहीं होता तो भोग पर बल न देकर आगम ही उसके विरोध में प्रबलतर होता है।

तृतीय प्रमाण साक्षी प्रमाण है। जब कोई घटना या कार्य किसी व्यक्ति के समक्ष हुआ हो तो वह उस घटना या कार्य का साक्षी होता है और वादी तथा प्रतिवाद को अपने पक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करते समय साक्षी की गवाही दिलवाने का अवसर दिया जाता है जिसके पक्ष में अधिक साक्षी होते हैं उसकी विजय होती है। साक्षी के सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि विद्वान्, कुलपुरुष एवं आप्त साक्षी यदि कम भी हो तो भी वे ही ग्राह्य होते हैं। साक्ष्य तभी उचित होता है जब ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया जाए जिसने या तो देखा हो या सुना हो या विवाद के मामले में अनुभव किया हो। जैसा कि टोडरानन्द में साक्षी के विषय में

नारद का कथन उद्धृत है–

संदिग्धेषु तु कार्येषु द्वयोर्विवदमानयोः।
दृष्टश्रुतानुभूतत्वात्साक्षिभ्यो व्यक्तदर्शनम्।।[पपप]

किसी विवाद के निर्णय में एक ही व्यक्ति को साक्षी नहीं मानना चाहिए लेकिन यदि वह एक व्यक्ति नियमित धार्मिक कृत्य करता है और दोनों पक्षों को स्वीकार है तो साक्षी हो सकता है। साक्षी के विषय में उसकी कुलीनता, वंशपरम्परा से देशवासी होना, सन्तानयुक्त गृहस्थ होना, धनी होना, चरित्रवान् होना, विश्वासपात्रता, धर्मज्ञता, लाभहीनता तथा दोनों पक्ष द्वारा स्वीकार्यता होना आवश्यक है। अनैतिक कार्यों से धन कमाने वाले साक्षी नहीं हो सकते। साक्षी बारह प्रकार के हो सकते हैंः–

लिखितो लेखितो गूढ़ः स्मारितः कुल्यदूतकौ।

यादृच्छिकश्चोत्तरश्च कार्यमध्यगतोऽपरः।।

नृपोऽध्यक्षस्तथा ग्रामः साक्षी द्वादशधा स्मृतः।।[पपप] अर्थी द्वारा कागज पर प्रस्तुत लिखित, प्रत्यर्थी द्वारा अर्थी की प्रेरण से प्रस्तुत लेखित, छिपकर सुना हुआ गूढ़, बार बार कार्य का स्मरण करवाए जाने वाला स्मारित, स्वेच्छा से साक्षी देने आया हुआ यादृच्छिक, सुना सुनाया उत्तर देने वाला, कार्य के मध्य आया हुआ, राजा, प्राड्विवाक एवं ग्राम वाले ये बारह प्रकार के साक्षी कहे गए है।

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में साक्षी के स्वरूप, कूट साक्षी आदि के विषय में विस्तार से विवेचन किया गया है। जब ये तीनों प्रमाण विवाद के निर्णय में असमर्थ हो जाते हैं तब दिव्य प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है जिसमें शपथ आदि के माध्यम से सत्य का उद्घाटन किया जाता था। इस प्रकार धर्मशास्त्रीय न्याय प्रणाली से आधुनिक न्यायप्रणाली कीी मिलती जुलती है और न्यायिक प्रक्रिया में साम्य से स्पष्ट है कि वर्तमान न्यायव्यवस्था पर प्राचीन न्याय प्रक्रिया का स्पष्ट प्रभाव रहा है।

***प्रोफेसर**
भाषाविज्ञान
राजकीय महाराज आचार्य संस्कृत महाविद्यालय,
जयपुर

संदर्भ सूची

1. मनुस्मृति 7/1–2
2. याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय 359

3. नाारद1/1/1
4. याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहाराध्याय 5 की मिताक्षरा
5. व्यवहारमयूख पृ. 1
6. याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहाराध्याय 8
7. व्यवहारमयूख पृ.12
8. याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहाराध्याय 6 की मिताक्षरा
9. याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहाराध्याय 22
10. याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहाराध्याय 23
11. व्यवहारमयूख पृ.19
12. व्यवहारमयूख पृ.21
13. व्यवहारमयूख पृ.21